International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493; Impact Factor: RJIF 5.46
Received: 28-12-2020; Accepted: 15-01-2021; Published: 05-02-2021
Volume 3; Issue 1; 2021; Page No. 11-15

भारतीय इतिहास-लेखन का पाश्चात्य दृष्टिकोण तथा राष्ट्रवादियों की प्रतिक्रिया: आलोचनात्मक अध्ययन

श्वेता राज
पीएचडी शोधार्थी, भारतीय भाषा केंद्र, जेएनयू, नई दिल्ली, भारत

सारांश

भारतीय भाषा, साहित्य और इतिहास के अध्ययन और उसके इतिहास-लेखन के पीछे तत्कालीन यूरोपीय विद्वानों के औनिवेशिक उद्देश्यों का अध्ययन करना और भारतीय राष्ट्रवादी लेखकों ने इसका प्रतिउत्तर किस प्रकार दिया, इसका अध्ययन प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है। एक तरफ, ब्रिटिश शासन ने भारत में अपने साम्राज्यवादी पकड़ को मजबूत बनाने के उद्देश्य से यहाँ के कानून-व्यवस्था, भाषा, धर्म, साहित्य, इतिहास और संस्कृति के अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन जरुरी समझा। दूसरी तरफ, उन्होंने भारतीय इतिहास को एक ख़ास तरीके से परिभाषित किया। आवश्यकतानुसार उसे कभी महान तथा कभी हीन साबित किया और अपनी 'फूट डालो, राज करो' नीति के तहत भारतीय इतिहास में सदा के लिए साम्प्रदायिकता का बीज बो दिया। इन यूरोपीय विद्वानों में तमाम वैचारिक मदभेद होने के बावजूद एक बात पर सहमति थी कि यह देश सदा से निरंकुश शासन का शिकार रहा है और ब्रिटिश प्रशासन के 'लोकतान्त्रिक शासन' से तहत ही उसे मुक्ति मिल सकती है। गौरतलब है कि इस मुक्ति का रास्ता हमेशा-हमेशा की गुलामी से खुलता था। राष्ट्रवादी मनिषाओं और आन्दोलनकारियों ने इसका प्रतिउत्तर देने का भरपूर प्रयास किया और भारतीय इतिहास को अपने ढ़ंग से परिभाषित करने की कोशिश की। पर अपने इतिहास लेखन में वह भी उसी अनैतिहासिकता के शिकार होते हैं, जिससे यूरोपीय लेखक ग्रसित थे। फलस्वरूप, दोनों ने ही भारतीय इतिहास के सामाजिक और आर्थिक पक्ष को दरकिनार कर दिया और राजवंशों का इतिहास लिखा। समाज के एक बड़े वर्ग को इस इतिहास से दरकिनार कर दिया गया। इस सभी पक्षों का अध्ययन इस लेख का उद्देश्य है।

मुख्य शब्द: इतिहास-लेखन, उपनिवेशवाद, प्राच्यवाद, राष्ट्रवाद, काल-विभाजन, साम्प्रदायिकता

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास-लेखन के पीछे यूरोपीय लेखकों के क्या औपनिवेशिक उद्देश्य थे तथा भारतीय राष्ट्रवादियों का इस संबंध में क्या रुख था, इसका अध्ययन इस पत्र का उद्देश्य है। व्यापर के बहाने ईस्ट इंडिया कंपनी ने समय के साथ अपने पाँव पसारने शुरू कर दिये। कंपनी की बढ़ती दखलंदाज़ियों ने ये ज़रूरत पैदा की कि ब्रिटेन प्रशासन के नुमाइंदे भारतीय उपमहाद्वीप पर अपने शासन का विस्तार करें तथा अपनी मजबूत पकड़ बनायें। इस दिशा में भारत की संस्कृति, रीति-रिवाज, भाषा व इतिहास के अध्ययन में उनकी रुचि बढ़ी। इस रुचि के क्या औपनिवेशिक उद्देश्य थे, इसे बयान करते हुए 1785 ई० में इस संबंध में *वॉरेन हेस्टिंग्ज* ने साफ़ शब्दों में लिखा कि "ज्ञान का हर संचय राज्य के लिए उपयोगी है... वह दूर (यानी अतीत) के प्रेम को आकर्षित करता और अपना बनाता है; यह उस जंजीर को हल्का बनाता है जिसके द्वारा मूल जनता (नेटिव्स) को अधीनता में रखा जाता है और यह हमारे अपने देशवासियों (ब्रिटेनवासियों) के दिलों पर परोपकार के भाव और दायित्व की छाप छोड़ता है।"[1]

भारतीय इतिहास-लेखन का औपनिवेशिक दृष्टिकोण

भारत में प्राच्यवादियों ने यही काम बड़ी कुशलता से किया। *वॉरेन हेस्टिंग्ज* की इस बात से उस दौर के यूरोपीय विद्वानों की मंशा का साफ़ पता चलता है। तत्कालीन यूरोपीय विद्वानों में तमाम बहसों के बावजूद एक बात पर पूरी सहमति थी कि यह उपमहाद्वीप निरंकुश शासन का शिकार है, इनमें स्वयं शासन करने की क्षमता नहीं है तथा वे इन्हें सभ्य बनाने तथा मुक्त करने आये हैं। लेकिन मुक्ति के इस रास्ते का मॉडल फ्रांसीसी क्रांति न हो जाये, अंग्रेजी विद्वानों द्वारा इसकी पूरी कोशिश की गयी और तथाकथित 'सुधार के युग' का आरम्भ हुआ। इस दिशा में अंग्रेजों द्वारा कई संस्थान भी खोले गये, जैसे – 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' (1784 ई०) तथा 'फोर्ट विलियम कॉलेज' (1800 ई०) आदि। *शेखर बंद्योपाध्याय* इस संबंध में लिखते हैं कि, "फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना का एक मकसद स्वतंत्रता के उन विचारों से रोकना भी था, जिनकी प्रेरणा फ्रांसीसी क्रांति ने दी थी।"[2]

जिन पाश्चात्य विद्वानों ने इस दिशा में अपनी रूचि दिखायी, उनमें *विलियम जोन्स, चार्ल्स विल्किंस, मैक्स मूलर, चार्ल्स ग्रांट, विसेंट ए. स्मिथ, ग्रियर्सन, एच. टी. कोलब्रुक* तथा *जेम्स मिल* आदि प्रमुख हैं । *विलियम जोन्स* के प्रयासों द्वारा ही 1784 ई० में 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' की स्थापना हुई। भारत के संबंध में इनकी बढ़ती रुचि के बारे में इतिहासकार *डी. एन. झा* लिखते हैं कि, "उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक, भारत के अतीत के बारे में बुद्धिजीवियों की उत्सुकता, भारत में आने वाले कंपनी के अफसरों तक ही सीमित नहीं रह गयी, बल्कि अनेक यूरोपीय विश्वविद्यालय भारतीय संस्कृति में रूचि लेने और वहाँ कई विद्वानों ने संस्कृत और उससे सम्बद्ध विषयों पर काम किया।"[3] इस क्षेत्र में *मैक्स*

[1] बंधोपाध्याय शेखर, *पलासी से विभाजन तक : आधुनिक भारत का इतिहास,* ओरियंट ब्लैकस्वान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ सं० 74

[2] वही, पृष्ठ सं० 75

[3] झा, डी.एन, *प्राचीन भारत : एक रुपरेखा,* मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली,2014, पृष्ठ सं० - 1

मूलर का नाम उल्लेखनीय है, उन्होंने भारत की यात्रा कभी नहीं की। फिर भी उन्होंने भारत के ग्राम-समुदायों की काफी प्रशंसा की। "उन्होंने भारतीय समाज का काव्यात्मक चित्रण किया, जहां किसी प्रकार का तनाव अथवा सामाजिक भेदभाव नहीं था। तीव्र औद्योगीकरण के फलस्वरूप होने वाले परिवर्तन से उनका हृदय उद्विग्न हो गया और उन्होंने भारत के नाम पर एक काल्पनिक सिद्धांत गढ़ लिया और उससे अपना अभेद्य संबंध स्थापित कर लिया।"[4] पर *मैक्स मूलर* तथा उनके समकालीन विद्वानों के विचार इंग्लैण्ड के अनुकूल नहीं सिद्ध हो सके, वहाँ *चार्ल्स ग्रांट* तथा *जेम्स मिल* का प्रभाव अधिक प्रबल था। *चार्ल्स ग्रांट* स्वयं तो कोई धर्म-प्रचारक नहीं थे, पर उनके नेतृत्व में ईसाई मिशनरियों को बहुत बल मिला। *चार्ल्स ग्रांट* का साफ़ मानना था कि, "भारत के लोग हिन्दू धर्म के कारण 'पतित' अवस्था में जीवनयापन करते है; ... ईसाई धर्म स्वीकार करने से ही उन्हें मुक्ति मिल सकती है ।"[5] एक तरफ जहां ईसाई मिशनरियों का प्रतिनिधित्व *चार्ल्स ग्रांट* रहे थे, वही दूसरी तरफ उपयोगितावादियों का प्रतिनिधित्व *जेम्स मिल* कर रहे थे। भारत के प्रति *जेम्स मिल* और *चार्ल्स ग्रांट* का रुख मिलता-जुलता था। *जेम्स मिल* ने 1817 ई० में तीन खण्डों में भारत का इतिहास लिखा और भारत के इतिहास को तीन कालों में विभाजित किया, हिन्दू काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल। इस प्रकार भारतीय इतिहास-लेखन में *मिल* द्वारा साम्प्रदायिकता का बीज बो दिया गया। उन्होंने प्राचीन भारत समेत समकालीन भारत को बर्बर कहा तथा ये स्थापित किया कि केवल ब्रिटिश-शासन की वजह से ही उसकी प्रगति एवं उत्थान संभव है। *ग्रियर्सन* ने 1888 ई० में *'The modern vernacular literature of Hindustan'* लिखा जोकि 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' की पत्रिका के विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। 'आधुनिक भाषा का इतिहास' लिखते समय उन्होंने इस विशेषांक की प्रस्तावना में बड़े अनैतिहासिक ढ़ंग से उर्दू को विदेशी कहकर भारत की आधुनिक भाषा से खाँचे से बाहर कर दिया। इस विशेषांक में साहित्य के इतिहास संबंधी उनके आभिजात्यपन (eliteness) का भी परिचय मिलता। जिसमें एक तरफ उर्दू को विदेशी कहकर ख़ारिज किया गया, दूसरी तरफ देशी भाषा में प्रचलित लोक गीतों (कजरी आदि) को भी नकार दिया गया जो किसी समाज के हाशिये की जनता के दर्द व उसके संघर्ष को बयान करने का एक माध्यम होता है। पर *ग्रियर्सन* के लिए ये न तो इतिहास का स्रोत था, न ही साहित्य का हिस्सा। वह लिखते हैं कि "मैं आधुनिक भाषा साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ।... मैं न तो अरबी फारसी के भारतीय लेखकों का उल्लेख कर रहा हूँ, और न तो विदेश से लाई गई साहित्यिक उर्दू के लेखकों का ही।... अगणित एवं अज्ञात कवियों द्वारा विचरित स्वतंत्र महाकाव्यों एवं ग्राम गीतों (जैसे कजरी, जंतसार और इसी प्रकार के अन्य भी) को, जो संपूर्ण उत्तरी भारत में प्रचलित हैं, मैंने इसमें सम्मिलित करने से अपने को रोका है।"[6] इसी क्रम में एक और महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य विचारक *विन्सेंट ए. स्मिथ* का ज़िक्र आवश्यक है। इन्होंने ग्रांट और मिल की भांति कड़वा रुख तो भारत के संबंध में नहीं अपनाया, लेकिन सिकंदर, अशोक, अकबर आदि को नायक के रूप में स्थापित करते हुए भी प्राचीन भारत के राजाओं की क्रूरता का बढ़ा-चढ़ा के वर्णन किया। *डी. एन. झा* ने इनके बारे में लिखा है, "उन्होंने भारत का प्रारंभिक इतिहास इस दृष्टिकोण से लिखा, जिसमें ब्रिटिश-राज के अनुरक्षण को इतिहाससम्मत माना जा सके तथा अंग्रेजों द्वारा भारतीय स्रोतों के शोषण का समर्थन किया जा सके।"[7] विडंबना है कि ब्रिटिश-राज के औपनिवेशिक उद्देश्यों को साधने के लिए स्मिथ द्वारा इस शोषण का समर्थन जनतान्त्रिक होने के नाम पर किया गया। परिणामस्वरूप, *स्मिथ* ने भी अन्य पाश्चात्य लेखकों की तरह ऐतिहासिक साक्ष्यों को तोड़-मरोड़ के पेश किया। इस प्रकार देखा जा सकता है कि यूरोपीय विद्वानों ने, जिनका दावा था कि भारतीय उपमहाद्वीप द्वीप के लोगों में इतिहास-बोध का अभाव है, यहाँ का इतिहास लिखते समय खुद भी कोई ऐतिहासिक रवैया नहीं अपनाया। अंग्रेजी हुकूमतपरस्त यूरोपीय लेखकों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ऐतिहासिक साक्ष्यों को गलत तरीके से पेश किया। भारतीय उपमहाद्वीप की प्रशंसा तथा क्रूर आलोचना दोनों ही अतिशयोक्ति में जाकर की गयी तथा अपनी सियासी जरूरतों के अनुसार भारतीय इतिहास का साम्प्रदायिकरण किया।

यहाँ एक सवाल वाजिब उठता है कि क्या यूरोपीय विद्वानों ने यहाँ का इतिहास लिखते समय वही वैचारिक पक्ष तथा दृष्टि अपनायी जो उन्होंने स्वयं अपना इतिहास लिखते समय अपनायी थी। इस संबंध में *रोमिला थापर* अपनी पुस्तक *'भारत का प्राचीन इतिहास'* में लिखती हैं कि, "यह आश्चर्य की बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब यूरोप संबंधी अध्ययन करते हुए यूरोपीय इतिहास में विकासवाद की प्रवृत्तियाँ खोजने पर बहुत अधिक जोर दिया जा रहा था, एशियाई इतिहास के अध्ययन में यह दृष्टिकोण कभी नहीं अपनाया गया।"[8] फलस्वरूप राजवंशों का इतिहास सामने आया और आम जनता के संघर्ष की गाथा को इतिहास के पन्नों में कोई जगह नहीं मिली। भारत का इतिहास तीन कालों में बँट गया – प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक। जिसमें प्राचीन काल का संबंध हिन्दुओं से और मध्यकाल का संबंध मुसलमानों से जोड़ दिया गया, "क्योंकि पहले काल के अधिकांश राजघराने मूलतः हिन्दू थे और दूसरे काल के मुस्लिम।"[9] जबकि प्राचीन काल में कई शासक ब्राम्हण-धर्म से संबंध नहीं रखने थे और न ही प्राचीन काल में हिन्दू-धर्म की कोई अवधारणा थी। राजवंशों के इतिहास के नाम पर भारतीय इतिहास का एक अनुचित तथा साम्प्रदायिक समीकरण पेश किया गया।

अपनी औपनिवेशिक आवश्यकताओं तथा शासन पद्धति के वैचारिक मतभेद के अनुरूप यूरोपीय विचारकों ने पहले भारत भी भूरी-भूरी प्रशंसा की तथा बाद में अन्यंत क्रूर आलोचना। "उन्नीसवीं शताब्दी में, जब यूरोप ने आधुनिक युग में प्रवेश किया तो यह रवैया (भारत की भूरी-भूरी प्रशंसा) बदलना शुरू हो गया, और कई क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति के प्रति उत्साह प्रायः उसी अनुपात में कम हो गया जितना पहले उत्साह का अतिरेक था।"[10]

इस संबंध में प्राच्यवादियों ने 'उल्टा परसंस्कृतिग्रहण'[11] की नीति अपनायी, जिसका अर्थ था कि भारतीय जनता पर उसके अपने विधानों के आधार पर हुकूमत करना। इसके लिए आवश्यक था कि ब्रिटिश शासक वर्ग के अधिकारियों को भारत के रीति-रिवाज, संस्कृति व इतिहास से परिचित व प्रशिक्षित किया जाय। "*टॉमस ट्राउटमान* (1997) इस संबंध में लिखते हैं कि प्राच्यवादी संवाद का एक और राजनीतिक उद्देश्य था। प्राचीन काल में अंग्रेजों और भारतीयों के संबंध होने के विचार को विचारित करने के बाद यह बाद 'प्रेम' के एक गढ़े गए शब्दजाल के

[4] वही, पृष्ठ सं० - 2

[5] वही, पृष्ठ सं० -, 2

[6] गुप्त, किशोरीलाल, *हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास*, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, वाराणसी, 1957, पृष्ठ सं० - 41-42

[7] झा, डी.एन, *प्राचीन भारत : एक रुपरेखा,* मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं० – 3

[8] थापर, रोमिला, *भारत का इतिहास,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं० - 16

[9] वही, पृष्ठ सं० - 16

[10] वही, पृष्ठ सं० – 12

[11] बंधोपाध्याय शेखर, *पलासी से विभाजन तक : आधुनिक भारत का इतिहास,* ओरियंट ब्लैकस्वान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ सं० 74

द्वारा भारतीयों को उपनिवेशी शासन से भी जोड़ देती थी।"[12] इसी क्रम में प्राच्यवादियों द्वारा संस्कृत तथा यूरोपीय भाषाओं के संबंध जोड़े गये। भारोपीय विरासत की भावना पैदा की गयी। "भारत के आर्य यूरोपवासियों के भाई समझे जाने लगे।"[13] यूरोपीय विद्वानों की भारत के प्रति जिज्ञासा बढ़ी तो "उनकी सूचनाओं के स्रोत ब्राम्हण पुरोहित थे, जिन्हें प्राचीन भारत का संरक्षक माना जाता था।... इस प्रकार भारत के अधिकांश प्राचीन इतिहास की पुनर्रचना लगभग पूर्णतया संस्कृत-स्रोतों अर्थात प्राचीन शास्त्रीय भाषा में सुरक्षित सामग्री के आधार पर की गयी। इनके बहुतेरे ग्रन्थ धार्मिक प्रकृति के थे और अतीत की व्याख्या स्वभावतः इनके रंग से बच नहीं सकी।... उनका झुकाव सत्ता के समर्थन की ओर था तथा आमतौर पर वे अतीत की ब्राम्हणों द्वारा की गई व्याख्या को मानते थे, भले ही उस व्याख्या में ऐतिहासिक प्रामाणिकता का अभाव हो।"[14] फलस्वरूप, भारत का काव्यात्मक काल्पनिक चित्रण एक ऐसे देश के रूप में हुआ जहां कोई तनाव अथवा सामाजिक भेदभाव नहीं था। प्राचीन ग्रंथों अध्ययन के माध्यम से एक ख़ास तरह के भारत की खोज की गयी और इस काम में पुरोहितों ने 'कोलेबोरेटर' की भूमिका निभाई।

शेखर बंदोपाध्याय इस संबंध में लिखते हैं कि, "प्राचीन ग्रंथों के विश्लेषण के जरिये ही भारत की खोज करते हुए ये प्राच्यवादी विद्वान इस क्रम में भारतीय 'परंपरा' को एक ख़ास ढंग से परिभाषित भी कर रहे थे, जिसे आगे चलकर भारत के बारे में सबसे प्रामाणिक विचार या सच्चा ज्ञान माना जाने लगा क्योंकि उसे उपनिवेशी राजसत्ता से वैधता प्राप्त हुई।"[15] और उपनिवेशी राजसत्ता से इसे क्यों वैधता प्राप्त हुई, यह बिलकुल स्पष्ट है।

भारत के अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन के एक छोर पर प्राच्यवादी थे तथा दूसरे छोर पर उपयोगितावादी व अन्य पाश्चात्य विद्वान थे। विडंबना ये है कि इन विद्वानों द्वारा ब्रिटिश सम्राज्यवादी शासन स्थापित करने के पक्ष में पाश्चात्य विचारकों द्वारा जनतान्त्रिक होने का तर्क दिया गया और 'सुधार का युग' आरम्भ हुआ। दरअसल "ब्रिटेन में मुक्त व्यापर की लॉबी का दबाव भारतीय व्यापार पर कंपनी के एकाधिकार के उन्मूलन का पक्षधर था, लेकिन फिर भी भारत में कंपनी के प्रशासन की प्रकृति में बदलाव 'इंजीलवाद' (Evangelicalism) और 'उपयोगितावाद' (Utilitarianism) ने पैदा किया। इन दोनों विचार-सम्प्रदायों का दावा था कि भारत को पापों या अपराधों के सहारे जीता गया है। लेकिन इन पापी या अपराधी शासन के उन्मूलन की पैरवी करने की बजाय वे उसमें सुधार के लिए शोर मचा रहे थे, ताकि भारतवासी 'अपने युग के बेहतरीन विचारों' के मुताबिक सुशासन (अंग्रेज़ी हुकूमत) के लाभ पा सकें। यही दो बौद्धिक परंपराएँ थीं जिनसे "आखिरकार यह आस्था पैदा हुई कि इंग्लैण्ड को भारत में हमेशा बने रहना चाहिए।"[16] और इस प्रकार, अंग्रेजी विचारकों द्वारा बड़ी चालाकी से एक अद्भुत तर्क गढ़ा गया, जहाँ भारत की मुक्ति का रास्ता हमेशा-हमेशा की गुलामी से खुलता हो। *जेम्स मिल* ने तो भारतीय उपमहाद्वीप की अनावश्यक क्रूर आलोचना की, उसे एक बर्बर देश के रूप में स्थापित किया तथा कहा कि "भारतीय सभ्यता ने राजनीतिक मूल्यों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया और भारत पर अनेक निरंकुश शासकों ने शासन किया। भारतीय समाज प्रारंभ से ही गतिहीन रहने के कारण प्रगति का विरोधी रहा और केवल ब्रिटिश-कालीन कानूनों के कारण उसमें परिवर्तन हुए।"[17] और इस प्रकार *मिल* ने भारतीय इतिहास के कई महत्त्वपूर्ण पक्षों को एक सिरे से नकार दिया। जैसेकि भारत अब तक निरंकुशता तथा तानाशाहियत का शिकार रहा हो, जिसको अंग्रेजों ने समाप्त किया। भारत के संबंध में *स्मिथ* की समझदारी *जेम्स मिल* जैसी क्रूर तो नहीं थी। "स्मिथ ने अपने समकालीन अंग्रेज़ इतिहासकारों के प्रमुख रुझानों का समर्थन करते हुए ऐतिहासिक महापुरुषों की ओर ध्यान दिया। सिकंदर, अशोक, चन्द्रगुप्त द्वितीय और अकबर उसके नायक थे। फिर भी स्मिथ ने प्राचीन भारत के राजाओं की क्रूरता का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया।"[18] *स्मिथ* ने कौटिल्य की दंड-संहिता की आलोचना करते हुए, 'क्रूर और भयानक' कहा। उन्होंने ने भी ऐतिहासिक साक्ष्यों को तोड़-मरोड़ के पेश किया। इन तमाम बातों के बीच "अंतर्निहित विचार यह था कि इस उपमहाद्वीप के इतिहास में जितने शासक आज तक हुए हैं, ब्रिटिश प्रशासन उन सबकी तुलना में श्रेष्ठ था।"[19]

गौरतलब है कि भारतीय राजाओं के निरंकुश शासन की कटु आलोचना करने तथा ब्रिटिश-हुकुमत को श्रेष्ठ और जनतांत्रिक होने का दावा करने के बावजूद भी यूरोपीय विद्वानों ने राजवंशों का ही इतिहास लिखना चुना। उन्होंने आम जनता का इतिहास नहीं लिखा। जिसमें जाति-वर्ण आदि की आलोचना निहित हो। भारतीय समाज के सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक पक्ष पर विचार शामिल हो। एक सत्ता-वर्ग ने दुसरे सत्ता-वर्ग का इतिहास लिखा ताकि तुलनात्मक तरीके से खुद को सर्वश्रेष्ठ साबित किया जा सके। *रोमिला थापर* इस संबंध में लिखती हैं कि "उन्नीसवीं सदी के भारत के साथ सबसे ज्यादा सीधा सरोकार जिन लोगों का था वे ब्रिटिश प्रशासक थे और शुरू में भारत के गैर-भारतीय इतिहासकार अधिकांशतया इसी वर्ग के लोग थे। फलस्वरूप, शुरू के इतिहास 'प्रशासकों के इतिहास' थे, जिनमें मुख्यतया राजवंशों और साम्राज्यों के उत्थान और पतन का विवरण होता था।"[20] इस प्रकार यूरोपीय विद्वानों ने अपनी औपनिवेशिक नीतियों के अनुसार भारतीय इतिहास की व्याख्या की। ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़ के पेश किया तथा उसमें साम्प्रदायिकता का जहर घोला।

राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन तथा उनकी प्रतिक्रिया

अब सवाल यह उठता है कि तत्कालीन भारतीय विद्वानों की इस संबंध में क्या राय थी? उन्होंने पाश्चात्य-विचारकों के इतिहास-लेखन के प्रति क्या रुख अपनाया? क्या वहाँ इस इतिहास-दृष्टि के प्रति कोई विरोध था या जाने-अनजाने मूक सहमति थी ? भारतीय विचारकों ने क्या नयी इतिहास-दृष्टि दी तथा उससे स्वतंत्रता आन्दोलन को क्या सैद्धांतिक पृष्ठभूमि मिली?

इतिहासकार *डी. एन. झा* इस संबंध में लिखते हैं कि, "प्राचीन भारतीय इतिहास के संबंध में ब्रिटिश विचारधारा को अनिवार्यतः उन भारतीय विद्वानों की प्रबल चुनौती का का सामना करना पड़ा, जो जाने-अनजाने भारत के सुधारवादी नेताओं के साथ-ही-साथ प्रबल राष्ट्रीय भावना तथा राजनीतिक जागरण से प्रभावित थे।"[21] इन सुधारवादी तथा राष्ट्रवादी नेताओं का प्रभाव उस दौर के भारतीय इतिहासकारों पर पड़ा। जिनमें आर. एल. मित्रा, आर. जी. भंडारकर, एस. के. आयंगर. एन. के.

---

[12] वही, पृष्ठ सं० - 74

[13] झा, डी.एन, *प्राचीन भारत : एक रुपरेखा,* मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं० – 1

[14] थापर, रोमिला, *भारत का इतिहास,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं० - 14

[15] बंधोपाध्याय शेखर, *पलासी से विभाजन तक : आधुनिक भारत का इतिहास,* ओरियंट ब्लैकस्वान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ सं० 74

[16] वही, पृष्ठ सं० - 77

[17] झा, डी.एन, *प्राचीन भारत : एक रुपरेखा,* मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं० – 2

[18] वही, पृष्ठ सं० – 3

[19] थापर, रोमिला, *भारत का इतिहास,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं० – 13

[20] वही, पृष्ठ सं० – 13

[21] झा, डी.एन, *प्राचीन भारत : एक रुपरेखा,* मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं० – 3

शास्त्री, के. पी. जायसवाल, आर. सी. माजुमदर, वी. के. राजवाड़े और पी. वी. काणे आदि प्रमुख है। यहाँ ये प्रश्न लाज़मी हो उठता है कि ये भारतीय विद्वान ब्रिटिश राज का विरोध करते हुए स्वयं अपने इतिहास को कैसे देख रहे थे ? ब्रिटिश-राज से भिन्न उनका क्या दृष्टिकोण था? भारतीय इतिहास की क्या प्रस्तुति की? उन्होंने भारतीय इतिहास के संबंध में कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया या फिर वो भी अनैतिहासिकता के दूसरे छोर पर खड़े थे।

प्राच्यवादियों की तरह ही भारतीय अभिजात्य-वर्ग के विद्वानों ने काल्पनिक ढंग से एक तरफ भारत और यूरोप के आर्यों के प्रगाढ़ संबंध के पुल बांधे। "भारत के आर्य यूरोपवासियों ने भाई समझे जाने लगे। केशवचंद्र सेन जैसे कुछ उच्चवर्गीय भारतवासियों ने इस विचार को अक्षरशः स्वीकार कर लिया और उन्होंने अंग्रेजों के साथ भी भारतवासियों का संबंध जोड़ दिया।"[22] और इस प्रकार भारतीय इतिहास में आर्य-आर्येतर की विभाजन-रेखा खींच दी गयी। भारतीय संस्कृति के नाम पर संस्कृत तथा एक अभिजात्य किस्म की समझदारी को बढ़ावा दिया गया। खुद को यूरोपीय संस्कृति के सामने जनतान्त्रिक तथा प्राचीन दिखाने के लिए "भारत के प्राचीन कबीलाई कुलीनतंत्रों को एथेन्स के जनतंत्र के समकक्ष ठहराया गया। यह सब कुछ यह सिद्ध करने के लिए किया गया कि भारत के लोगों को बहुत पहले से ही जनतान्त्रिक शासन की परंपरा की जानकारी थी, जिसके लिए वे अंग्रेजों से संघर्ष कर रहे थे।"[23] इतिहासकार *डी. एन. झा* इस संबंध में आगे लिखते हैं कि, "इस प्रकार राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने हमारे स्वाधीनता आन्दोलन को एक सैद्धांतिक हथियार से लैस किया, लेकिन उनका दृष्टिकोण ब्रिटिश इतिहासकारों के दृष्टिकोण से कम अनैतिहासिक नहीं था।"[24]

यूरोपीय विद्वान जोकि यूरोप की शिक्षा-दीक्षा की क्लासिक परंपरा के प्रभाव में थे, वो किसी नयी पता चली संस्कृति को यूनानी संस्कृति की कसौटी पर कसते थे कि वो यूनानी संस्कृति की तुलना में हीन है अथवा यदि उसमें कुछ अच्छा है तो वो यूनानी संस्कृति से लिया हुआ है। यही काम यूरोपीय विद्वान *स्मिथ* ने भी किया कि अजंता शैली की चित्रकला फारस से, और अन्तोगत्वा यूनान से ग्रहण की गई होगी। जिसपर भारतीय इतिहासकारों ने अपनी तीव्र प्रतिक्रिया जाहिर की कि भारतीय संस्कृति का कुछ भी यूनानी संस्कृति से नहीं लिया गया है। *प्रो. रोमिला थापर* लिखती हैं कि भारतीय इतिहासकारों द्वारा "यह सिद्ध करने के प्रयत्न किए गए कि भारत ने अपनी संस्कृति का कोई भी अंश यूनान से ग्रहण नहीं किया था, अथवा यह कि भारत की संस्कृति यूनान संस्कृति के बिलकुल समानांतर थी, जिसमें उन सब गुणों के दर्शन होते थे जो यूनानी संस्कृति में वर्तमान थे। हर सभ्यता अपने-आपमें एक अलग चमत्कार होती है, इसे तब तक न यूरोपीय इतिहासकारों ने समझा था और न भारतीय इतिहासकारों ने।"[25]

इसी क्रम में भारतीय संस्कृति के नाम पर आर्य संस्कृति का अनैतिहासिक ढंग से महिमामंडन किया गया। आर्य-संस्कृति को अति प्राचीन बताया गया। *बाल गंगाधर तिलक* ने वेदों का समय तीन हज़ार साल ई० पू० निर्धारित किया और *ए. सी. दास* ने कुछ ऋग्वैदिक ऋचाओं का संबंध भू-वैज्ञानिक युग से जोड़ दिया। हालांकि बाद में हड़प्पा सभ्यता की खोज ने इस सभी मान्यताओं को चुनौती दी तथा इस मिथक को तोड़ा। *विवेकानंद, बंकिमचन्द्र* तथा *दयानंद सरस्वती* आदि विचारकों ने वेदों के प्रचार-प्रसार के माध्यम से राष्ट्रीय-गौरव का निर्माण करने की कोशिश की। पर आर्य-संस्कृति तथा वेदों के महिमामंडन की प्रवृत्ति, जो खुद को अलग तथा प्राचीन दिखाने की चाह से थी, वो उतनी ही यूरोपीय विचारों से भी प्रभावित थी। वेदों को प्राचीनता तथा आधुनिक वैज्ञानिकता का स्रोत बताते हुए दयानंद सरस्वती ने 'वेदों की ओर लौट चलो' का आह्वान किया। पाश्चात्य विचार तथा ईसाई धर्म से तुलना करते हुए 'रिलिजन' की पाश्चात्य अवधारणा से भारतीय विचारकों का परिचय हुआ। फलस्वरूप, एक पुस्तक की पूजा तथा एक धर्म की अवधारणा प्रबल हुई। भारत में बाइबिल के बरक्स वेद-ग्रंथों का महिमामंडन किया गया कि वे समस्त प्राचीन तथा आधुनिक-वैज्ञानिक ज्ञान का स्रोत हैं। ईसाई धर्म के बरक्स हिन्दू-धर्म को स्थापित किया गया तथा उसकी प्राचीनता साबित की गयी और ये भी साबित किया गया सारे प्राचीन राजा व राजवंश हिन्दू थे। जबकि न ही हिन्दू-धर्म की अवधारणा कोई प्राचीन अवधारणा थी और न ही सारे प्राचीन भारतीय राजा व राजवंश हिन्दू थे। इसका परिणाम ये हुआ कि "राष्ट्रवादी नेताओं और इतिहासकारों की कल्पना को आर्यजाति के मिथक ने आक्रांत कर लिया"[26] तथा *जेम्स मिल* ने जिस सांप्रदायिक इतिहास की नींव भारतीय इतिहास व उसके काल-विभाजन के संबंध में रखी थी, उसपर भारतीय इतिहासकारों तथा राष्ट्रवादियों ने भी मुहर लगा दी।

भारतीय संस्कृति के नाम पर हिन्दू संस्कृति को बढ़ावा मिला। "राष्ट्रवादी इतिहासकारों द्वारा प्राचीन भारत की प्रशस्ति का अर्थ था हिन्दू भारत की प्रशस्ति। इसलिए एक तरह से उनका लेखन विवेकानंद, दयानंद आदि के सुधारवादी विचारों से जुड़ा हुआ नजर आता है। चौथे और पांचवें दशकों में राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने हिन्दू पुनर्जागरणवाद के प्रमुख पुरोधा सावरकर के विचारों को नये ढंग से फैलाना शुरू किया। सावरकर ने 'हिंदुत्व' और 'हिन्दू राष्ट्र' का सिद्धांत प्रस्तुत किया और "संपूर्ण राजनीति का हिन्दूकरण और हिन्दू जाति का सैन्यीकरण" करने का खतरनाक नारा दिया।"[27] इस प्रकार भारतीय संस्कृति के नाम पर हिन्दू संस्कृति को तरजीह दी गयी और भारतीय इतिहास के नाम पर अंधराष्ट्रवाद को बढ़ावा मिला। *प्रो० डी. एन. झा* अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत' में लिखते हैं कि "इतिहास-लेखन के स्तर पर हिन्दू पुनरुत्थानवाद का अर्थ यह है कि हम मिल का काल-विभाजन स्वीकार करते हैं।"[28] यह सत्य है कि उस समय के भारतीय इतिहासकारों ने मिल के काल-विभाजन पर कोई प्रश्न नहीं उठाया। उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। परिणामतः गैर-वैज्ञानिक तथा अनैतिहासिक ढंग से भारतीय इतिहास का काल-विभाजन हुआ। प्राचीन काल हिन्दू-काल में तथा मध्य काल मुस्लिम-काल में बंट गया। फलतः प्राचीन काल के शक, कुषाण और हूण आदि राजवंशों को हिन्दू कह दिया गया जोकि वे नहीं थे। मध्य काल का आगमन इस्लाम के आगमन से मान लिया गया। जिसे बाद के इतिहासकारों ने ख़ारिज किया कि "इस्लाम के आगमन के साथ नहीं, बल्कि छठी शताब्दी ईसवी सन् में गुप्त-साम्राज्य के पतन के साथ मध्य-युग का उदय होता है।"[29] इस प्रकार तत्कालीन भारतीय इतिहासकारों ने भी भारतीय इतिहास लेखन के सन्दर्भ में कम अनैतिहासिक रवैया नहीं अपनाया।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास का कोई वैज्ञानिक काल-विभाजन नहीं किया और न ही भारतीय समाज के उन सामाजिक, आर्थिक पक्षों पर विचार किया जो भारतीय इतिहास को नयी दिशा देने के लिए आवश्यक थी। बल्कि उन्होंने बहुत हद तक उसी मॉडल को लागू किया जोकि पाश्चात्य विद्वानों का था।

हालांकि बाद के भारतीय विद्वानों ने पाश्चात्य तथा भारतीय राष्ट्रवादी इतिहासकारों के मतों को चुनौती दी तथा भारतीय इतिहास लेखन तथा उसके काल-निर्धारण में

[22] वही, पृष्ठ सं० – 1

[23] वही, पृष्ठ सं० – 5

[24] वही, पृष्ठ सं० – 5

[25] थापर, रोमिला, *भारत का इतिहास,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं० – 14

[26] झा, डी.एन, *प्राचीन भारत : एक रुपरेखा,* मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं० - 4

[27] वही, पृष्ठ सं० - 5

[28] वही, पृष्ठ सं० - 6

[29] वही, पृष्ठ सं० - 6

भारतीय समाज के सामाजिक-आर्थिक पक्षों पर जोर देते हुए, भारतीय इतिहास को नया सैद्धांतिक धरातल दिया। इस दिशा में में *मोहम्मद हबीब, इरफ़ान हबीब, डी. डी. कौशाम्भी, डी. एन. झा, रोमिला थापर, हरबंस मुखिया, बिपिन चन्द्रा, सतीश चंद्र, आर. एस. शर्मा, शेखर बंदोपाध्याय, सुमित सरकार, उमा चक्रवर्ती, तनिका सरकार* आदि भारतीय इतिहासकारों के नाम लिए जा सकते हैं।

भारत के इतिहास के काल-विभाजन के संबंध में *डी. एन. झा* द्वारा सम्पादित पुस्तक *"दी इवोल्यूशन ऑफ़ ए नेशन प्री-कोलोनियल टू पोस्ट-कोलोनियल"* में इटालियन इतिहासकार *मिशेलगुग्लिएमो तोरी* अपने एक लेख में भारतीय इतिहास के काल-विभाजन के संबंध में अपनी राय देते हुए भारतीय-इतिहास के विकास को विश्व इतिहास से जोड़कर देखने की सलाह देते हैं ताकि भारतीय इतिहास के एक नए काल-विभाजन की ओर बढ़ा जा सके। जिसका फ्रेम औपनिवेशिक न हो। इतिहासकार तोरी ने काल-विभाजन संदर्भ में दो प्रमुख बिन्दुओं पर विचार किया। "पहला, उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं की पहचान जो किसी काल विभाजन को प्रभावित करते हैं तथा दूसरा, कोई भी काल-विभाजन अपने कुछ पीछे छुपे हुए एजेंडे के साथ किया जाता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए ये स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय इतिहास का काल-विभाजन बहुत हद तक औपनिवेशिक विचार के प्रभावित है।'[30]

उपसंहार

गौरतलब है कि तत्कालीन भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही इतिहासकारों ने अपने-अपने सत्ता-वर्ग की तरफ से जनतांत्रिक होने का दावा पेश करते हुए राजवंशों का इतिहास लिखा। बस उनके तर्क अलग-अलग थे। एक तरफ, पाश्चात्य विचारक ये मानते थे कि ब्रिटिश-राज से पहले यहाँ निरंकुश शासन-प्रणाली थी। दूसरी तरफ भारतीय इतिहासकारों की मान्यता थी कि "भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग इस देश में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व था।"[31] इन दोनों ही इतिहासकारों ने जनता के इतिहास, उसके सामाजिक-आर्थिक पक्षों को अपने इतिहास में तरजीह नहीं दी। फलस्वरूप दोनों ने ही राजवंशों का इतिहास लिखा। एक लम्बे समय तक राजवंशों के इतिहास को ही इतिहास-लेखन का प्रमुख विषय माना जाता था। जोकि एक फौरी समझदारी थी। इतिहासकार *रोमिला थापर* इस संदर्भ में लिखती हैं कि, "भारत में सत्ता किस प्रकार कार्य करती रही है, यह वर्णों तथा जातियों के संबंधों और व्यापारिक श्रेणियों तथा ग्राम परिषदों जैसी संस्थाओं का विश्लेष्ण करके समझा जा सकता है, राजवंशों का सर्वेक्षण करने मात्र से नहीं।"[32] भारतीय इतिहासकारों ने भी पाश्चात्य विचारकों की तरफ भारतीय इतिहास को राजवंशों के इतिहास के रूप में देखा। जबकि आवश्यकता थी कि भारतीय इतिहास के अंतर्गत जाति, वर्ग, लिंग तथा सामंती-व्यवस्था के उदय आदि प्रश्नों पर विचार किया जाये।

सन्दर्भ सूची

1. गुप्त, किशोरीलाल, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, वाराणसी, 1957
2. झा, डी.एन, प्राचीन भारत : एक रुपरेखा, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
3. थापर, रोमिला, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
4. बंधोपाध्याय शेखर, पलासी से विभाजन तक : आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
5. Jha DN. (Ed The evolution of a Nation pre-colonial to post-colonial, Manohar Publishers, New Delhi.

[30] Jha, D.N, (Ed *The evolution of a Nation pre-colonial to post-colonial,* Manohar Publishers, New Delhi, 2014, page no. 39

[31] थापर, रोमिला, *भारत का इतिहास,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं० – 13

[32] वही, पृष्ठ सं० - 15